The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research
An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 1 | Issue 4 | November 2023
ISSN: 2583-973X
Website: www.theacademic.in

प्रतिरोध की संस्कृति और बुन्देली लोक–साहित्य

डॉ0 नीरज कुमार द्विवेदी

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, दयानन्द वैदिक कॉलेज, उरई, जालौन (उ0प्र0)

सामान्यतः लोक शब्द देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अवलोकन शब्द इसी से बना है। लोक का अर्थ हुआ देखने वाला। वेदव्यास ने लोक को यर्थाथ रूप से देखने वाला व्यक्ति माना है–प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। वेदों के बाद उपनिषद काल में जैमिनीय ब्राहम्ण ग्रंथ में कहा गया है–बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः। जो लोक को अपनी आंखों से देखता है, उसकी धड़कन को महसूस कर सकता है, वही व्यक्ति लोक को समझ सकता है। काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए भूभाग पर पनपता हुआ मानव समाज भारतीय लोक है। भारतीय लोकजीवन हमारे सुदीर्घ इतिहास का अमृतफल है। जो कुछ हमने सोचा, किया और सहा, उसका प्रकट रूप हमारा लोकजीवन है। लोक राष्ट्र की अमूल्य निधि है। लोक–साहित्य में इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे जिनका उद्देश्य मात्र समाज की आन्तरिक पीड़ा प्रकट कर उसके आधार पर जन–समूह को नवनिर्माण के लिए प्रेरित करना है। जब किसी व्यवस्था से अपने को सुख या शान्ति नहीं मिलती तो मनुष्य सहज रूप से उससे विमुख हो जाता है और समय मिलने पर उसका विरोध करने के लिए उन सम्भव माध्यमों का सहारा लेता है जिससे उसका उन्मूलन हो जाए। प्रतिरोधात्मक प्रवृत्ति का सूत्रपात यहीं से होता है।

समाज में घटित होने वाली घटनाओं, परम्पराओं एवं समस्याओं का स्पष्ट रूप लोक–साहित्य में सुरक्षित रहता है। आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक समाज को जिन परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है उसका सम्यक् एवं पुष्ट ज्ञान हम विविध समयों में रचे गए लोक–साहित्य से प्राप्त कर सकते हैं। लोक–साहित्य का रचयिता जनसमूह से निकट सम्बन्ध होने के परिणामस्वरूप जीवन विषयक गतिविधियों से अधिक परिचित होता है। ऐसी स्थिति में वह जिन विचारों को व्यक्त करता है उसमें यथार्थता एवं स्वाभाविक लोक–साहित्य में हमें जीवन के सहज प्रवाहमयता में बाधा बनने वाली शक्तियों, सामाजिक दुराचारों एवं अत्याचारों के खिलाफ अनेक तरह की अनुगूँजें सुनाई पड़ती है। नित्य प्रति के जीवन में शांत दिखने वाला एवं प्रसन्नता और उत्फुल्लता के वातावरण से ढके लोक–समुदायों के अन्दर सामाजिक एवं मानवीय कुरीतियों के प्रति, आर्थिक विषमताओं के प्रति, सत्ता के प्रति, राजनीति के प्रति, थोपित आदर्शों के प्रति और भी अनेक विषयों के प्रति प्रतिरोध का भाव कितनी सान्द्रता से भरा हुआ है इसका आभास हमें लोक–साहित्य को देखकर सहज ही हो जाता है।

बुन्देलखण्ड की पावन भूमि सदैव से यशस्वी रही, इसकी अपनी सांस्कृतिक पहचान है, इसकी प्राकृतिक बनावट विषम है तथा इसका सम्पूर्ण क्षेत्र विन्ध्याचल पर्वत श्रेणियों के मध्य फैला हुआ है। इस क्षेत्र में अनेक दुर्ग,

*Corresponding Author: neerajdwivedi71@gmail.com

गुफायें और ऋषियों के निवास स्थल रहे है। इस क्षेत्र में अनेक आदिवासी जातियाँ तथा आर्य कुल के लोग निवास करते थे। भगवान श्रीरामचन्द्र जी ने यहां 12 वर्ष व्यतीत किये तथा कल्चुरियाँ, चन्देलों तथा बुन्देला नरेशों ने इस धरती का सम्मान बढ़ाया। पंचम सिंह, वीर सिंह, चम्पत राय, छत्रसाल, हरदौल जैसे वीर उत्पन्न हुये। इसी परिक्षेत्र में वेदव्यास जैसे महर्षि उत्पन्न हुये, जिन्होंने अठारह पुराणों की रचना की। मध्य भारत का विन्ध्याटवी क्षेत्र बहुत प्राचीन है। बुन्देलखण्ड परिक्षेत्र का नाम 'बुन्देलखण्ड' 12वीं शताब्दी के बाद ही मिलता है, इसके पहले यह क्षेत्र गौड़वाना, जेजाक, भुक्ति, चेदि देश, युद्व देश, दशार्ण देश, कालिंजर प्रदेश, विन्ध्याटवी, बज्रदेश और डाभाल तथा डांगर देश के नाम से प्रसिद्व रहा। अनेक ग्रन्थों में इस देश का नाम चित्रकूट देश के नाम से भी मिलता है। इस क्षेत्र में बुन्देला ठाकुरों का राज्य ईसा की चौदहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ। बुन्देलों का शासित प्रदेश ही बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता है। इतिहासकार जयचंद्र विद्यालंकार ने विन्ध्याचल पर्वत श्रेणियों में फैले क्षेत्र को बुन्देलखण्ड के नाम से अभिहित किया है। भौगोलिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड का सीमांकन नदियों से किया जाता हैं। बेतवा (वेत्रवती), धसान (दशार्ण) और केन (शुक्तिमती) नदी क्षेत्र एवं नर्मदा की ऊपरी घाटी पंचमढ़ी से अमरकंटक तक के क्षेत्र को इसके अन्तर्गत माना जाता है–

'इत जमना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टोंस'।[1]

बुन्देलखण्ड एक सांस्कृतिक ईकाई है, परन्तु आज इस नाम का कोई प्रदेश नहीं है। संस्कृति, परम्पराएँ, लोक–व्यवहार और बोली के आधार पर एक निश्चित भू–भाग बुन्देलखण्ड की संरचना करता है। इस भू–भाग की बोली बुन्देली कहलाती है। बुन्देली की उत्पत्ति शौरसेनी या पश्चिमी हिन्दी से हुई हैं। ब्रज और खड़ी बोली से इसका निकट का संबंध है।

लोकमन अत्यधिक संवेदनशील होने के कारण तीव्र प्रतिक्रिया करता है। यह संवेदनशील प्रतिक्रिया परिणामित रूप से प्रतिरोध होती है। लोक में प्रतिरोध के विभिन्न स्तर और समीकरण होते हैं। लोक तो एक ही होता है परन्तु वह विभिन्न स्तरों में वर्गीकृत होता है। इसी कारण हमें लोक के भीतर प्रतिरोध के विभिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं जो परिणाम एवं परिणाम में अनेक आकार–प्रकार के होते हैं। लोक में प्रतिरोध के अनेक स्वर हैं और उन सभी पर विस्तृत चर्चा भी सम्भव है, परन्तु यहाँ लेख की सीमा को ध्यान में रखते हुए प्रतिरोध के प्रमुख आधार 'अर्थ'– जिसे जीवन के लिए जरूरी संसाधन स्वीकार किया जाता है, तक ही अपने को सीमित करने का प्रयास किया है।

बुन्देली लोकगीतों में वर्णित आर्थिक–पक्ष द्वारा यहाँ की आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। बुन्देलखण्ड के बारे में एक सामान्य अवधारणा रही है कि यह क्षेत्र आर्थिक रूप से कमजोर है और आधुनिकता से तो वह कोसों दूर है। यहां के जीवनयापन का मूलाधार कृषि है, जो कि दैवीय कृपा पर निर्भर होती है, जिसका प्रभाव यहां के लोक साहित्य में हर स्तर पर दिखाई पड़ता है। बुन्देली–साहित्य में एक ओर कुछ ऐसे गीत हैं जिनमें प्राचीन सम्पन्नता, वैभव एवं गरिमा का वर्णन है तो दूसरी ओर ऐसे गीत भी हैं जिसमें निर्धनता, विपन्नता, मँहगाई, अकाल आदि का वर्णन मानवमन को झकझोर देने में समर्थ है। ग्रामीण समाज में प्रचलित गीतों

में एक ओर 'चन्दन का पलना', 'रतन कटोरिया' आदि का वर्णन है तो दूसरी ओर 'टपकते छप्पर', 'कुर्की', 'निर्धनता' आदि का मार्मिक वर्णन भी है। परिश्रम के पश्चात् फसल का अपहरण निर्धन कृषकों पर बज्रपात के समान ही होता है। अपनी पूरी फसल दे देने के बावजूद लगान पूरी न होने पर किसान के घर की 'कुर्की' होना अवश्यंभावी हो जाता है– 'कुर्की' के समय तन की 'अंगिया' तथा 'सैल' गया अर्थात् मान–सम्मान सभी कुछ खो दिया–

जुनरिया हो गई मन भर की
मुनसी आये पटवारी आये
आये तैसीलदार, होन लगी 'कुरकी'
जुनरिया मन भर की।
लांगा बिक गओ, लंगरा बिक गओ
बिक गई अंगिया तन की
राजा के बांधन को सेला बिकगओ
फजियत हो गई घर की
जुनरिया मन भर की।[2]

बुन्देलखण्ड का लोकमानस आर्थिक रूप से पिछड़ा और शोषित रहा है। आर्थिक विपन्नता, सामन्ती सत्ता द्वारा शोषण, ऋणग्रस्तता, सिंचाई साधनों की कमी, उद्योगों में बेगार की बहुलता आदि कष्टों में निम्न वर्ग आकंठ डूबा रहा है। जीवनभर पेट की चिंता और भविष्य की अनिश्चितता जीवन को उद्देश्यहीन बनाए हुए थी। इनका किसी भी वस्तु पर स्वामित्व नहीं बचा था। वे मालगुजारी या जमींदार की भूमि पर कार्य करते थे, बंधक मजदूर का जीवन व्यतीत करते थे। बुन्देली किसानों की हालत इन मजदूरों से बेहतर नहीं कही जा सकती। धर्म के ठेकेदार और मंदिर के पुजारी भी पैदावार का अंश छीन लेते थे। साहूकार बीज का सवाया लेता था। स्थिति ऐसी कि खाने को भी कुछ नहीं बच पाता। फसल अच्छी हुई हो या न हुई हो, जमींदार को अपनी 'तिहाई' चाहिए ही और मुंशी पटवारी आदि का भाग अलग से। वस्तुतः जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत बेचारा किसान लगान और तिहाई चुकाते–चुकाते स्वयं गिरवी हो जाता था और उसकी जीविका के माध्यम खेत तक बिक जाते थे। निर्धन किसान की विवशता से उपजा असंतोष ही कवि इन पंक्तियों में अभिव्यक्त करता है–

हमरी कैसें चुकत तिहाई
मेड़न–मेड़न हम फिर आए, डीमा देत दिखाई
छोटी–छोटी बाल कढ़ी है, कूरा रहे फराई
जमींदार को आव बुलौआ, को अब करे सहाई
थरियाँ, बछियाँ साहू ने ले लई, रै गई पास लुगाई।[3]

जमींदार, महाजन, साहूकारों आदि ने अन्दर ही अन्दर किसानों की मजबूरी का लाभ उठाया। स्वयं तो शक्तिशाली होते गए, किन्तु दीनहीन किसान और अधिक जर्जर बन गए। इन आन्तरिक शोषकों ने एक महत्त्वपूर्ण

वर्ग को, जिस पर देश की नींव खड़ी है, उसे चूसकर कंकाल बना दिया। किसान इन अत्याचारों से त्रस्त थे और इनके उन्मूलन के सपने देखा करते थे। समाज के विभिन्न सामूहिक अवसरों; यथा–शादी–ब्याह, मेले या त्यौहारों (होली आदि) पर गाँव के किसी स्थान विशेष पर एकत्रित हो नाच–गाने का आयोजन करते हैं। इनमें समाज के पुरोहितों, जमींदारों तथा अन्य प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्तियों के लिए अत्यंत व्यंग्यात्मक कथ्य, भाषा एवं प्रतीक का उपयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष में एवं अन्य अवसरों पर जहाँ प्रभुताशाली वर्गों के सामने ये लोग आँख तक नहीं उठाते, वहीं इन विशेष अवसरों पर मजाक–मजाक में वे उन्हें कुछ भी कह जाते हैं–

काम पै जो कऊँ भई अबेर, करै मालिक भारी अंधेर।
मजूरन खौं तो तिन्दुआ सेर, साहबन खौ माटी कौ ढेर।
घूस में बारत लाख हजार, करेयन खों न बौगिने छदाम।
कांख में दबे कोख के लाल, गैल में का करिये अब राम।[4]

ग्रामीण समाज की आर्थिक प्रगति का स्वरूप पर्याप्त मन्द रहा है। प्राकृतिक प्रकोप, जनसंख्या–वृद्धि, संसाधनों की कमी आदि ऐसे प्रमुख कारण हैं जिनके कारण समाज को अनुकूल प्रगति का अवसर नहीं मिल पाया है। सत्ता और व्यवस्था को आक्षेपों तथा आलोचनाओं से बचाया नहीं जा सकता। समाज की दुर्गति का सम्पूर्ण दायित्व इसी मशीनरी पर है। विविध आर्थिक स्रोतों की दुर्बलता तथा प्रबंध को अकुशलता के कारण समाज की प्रगति बाधित हुई है। भूमिहीन निर्बल मजदूर तथा अल्पकृषि पर आधारित किसान पर भी इसका असर प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है। इनकी स्थिति विकट हो चली, फलस्वरूप सीमांत किसान मजदूरों में बदलने लगे। मजदूरों की संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी होती रही। सामान्यतः मजदूरी के दो रूप प्रचलित हैं–एक तो रोजनदारी और दूसरी महीनेवरी, जिसे बुन्देली भाषा में 'मईंदारी' कहा जाता है। मईंदारी प्रथा दलितों के लिए एक कलंक 'बंधुआगीरी' है। मईंदारी में मजदूर सालो साल 'बंधुआ' बना जमींदारों की गुलामी करता है। इस अनवरत् चलने वाली गुलामी के प्रति उसके मन में असन्तोष व्याप्त है जो इन पंक्तियों में स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है–

भूल कें करियो न मईंदारी
साजी रोजनदारी
× × × ×
मइना कम और काम मुलक को।[5]

लोक साहित्य के रचनाकारों का समुदाय एक सामाजिक सदस्य, जागरूक नागरिक और भावुक कलाकार के रूप में इन दुर्दशापूर्ण स्थितियों को अपनी आँखों से देख रहा है और चिंतामन होकर उनके समाधान पर विचार भी कर रहा हैं। किन्तु उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे उद्धार के समस्त द्वार बन्द हो चुके हैं। देश में जिस कोटि की आर्थिक व्यवस्था अपेक्षित थी वह नागरिक वर्ग को देखने को नहीं मिली। अशिक्षित किसान मन ही मन सोचने लगा कि अंग्रेजी शासन और नए शासन के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही हमारे लिए शोषक सिद्ध हो चुके हैं। अमीर और अमीर हो रहे हैं, गरीब और गरीब। अमीरों की दुनिया विचित्र है। उनके घर

पर गरीबों की कोई सुनवाई नहीं है। सम्मान करना तो दूर, वे उनके सहज मानवीय गुणों का मूल्यांकन करने के लिए भी तैयार नहीं है। समाज की यह स्थिति आन्तरिक विद्रोह की सूचना दे रही है। इस विद्रोही–भाव को लोक–साहित्य–जगत में 'चुप की संस्कृति' के नाम से भी जाना जाता है। हालांकि इस शब्द–युग्म का प्रयोग नारी एवं दलित वर्ग के लिए विशेष तौर पर किया जाता है, परन्तु इन गरीबों का हाल भी, चाहे वे जिस भी वर्ग से जुड़े हों, उनसे बेहतर नहीं है।

आर्थिक विपन्नता का असर हमारे रोज़मर्रा के जीवन पर प्रत्यक्षतः पड़ता है। फलस्वरूप समाज में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। अर्थ से ही संबंधित एक सामाजिक विकृति है दहेज। बुन्देली समाज में दहेज 'प्रथा' के रूप में मान्यता ग्रहण कर चुका है। शिक्षा का स्तर सुधरने पर ही इसमें कुछ कमी की आशा की जाती रही है, परन्तु हम व्यावहारिक रूप में यह देखते हैं कि जो जितना पढ़–लिख जाता है, दहेज–बाजार में उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। पढ़–लिख जाना ही दहेज के लिए पर्याप्त आधार बन जाता है चाहे उसके घर की आर्थिक पृष्ठभूमि कितनी ही खराब क्यों न रही हो– 'घर में नईयां भुंजी भांग/मोड़ा के ब्याव में हजारन की मांग।' लड़के के सुशिक्षित या नौकरी पेशा होते ही उसके पिता या अभिभावकगण सारी सामाजिक मर्यादा और मानवीयता को ताक पर रख देते हैं। समझाने और दुहाईयाँ देने का भी इन पर कोई असर नहीं होता–

पर तिवाई ने न मानी एकऊ बात
मिसिर खों दुत्कारो केऊ बार
बरात लौटाबे की धमकी बार–बार
रटत रए बस एकई बात
पाँच–हजार पाँच–हजार।

दहेज न दे पाने की स्थिति में एक लड़की का पिता विषपान करने की बात करता है तो उसकी लड़की, जिसका कि विवाह होना था, अपने पिता से कहती है कि मैं अपने ससुर से विनती करूँगी कि वो मान जाएँ, फिर भी यदि वो न माने तो उन्हें वहीं से लौटा दूँगी–

काहें खों बाबू थर–थर कांपो, काहे जहर विष खाव।
अपने ससुर सों विनती कर हों, आधे सों देहों भगाए।[6]

देखने में तो यह बात अतिसाधारण लगती है, परन्तु जब हम बुन्देली समाज की परम्पराओं पर नजर डालते हैं तो यह स्थिति कि एक लड़की विवाह–पूर्व अपने ससुर से बात करें, जहाँ कि बहू आजीवन अपने ससुर बात नहीं करती और अगर विवाहपूर्व उनसे बात करनी पड जाए जो स्थिति बड़ी ही विडम्बनात्मक लगती है, साथ ही विद्रोहात्मक भी। उससे भी विकट बात यह है कि जिस समाज में नारी को बिना अनुमति देहरी के बाहर कदम रखने की परम्परा नहीं है वह नारी इतनी हिम्मत दिखने की सोच रही कि अपने पिता के सम्मान के खातिर बारात लौटा दी जाए।

बुन्देलखण्ड में बेमेल विवाह भी काफी मात्रा में देखने को मिलते हैं। बेमेल विवाह के दो पक्ष होते हैं–पहला वर का वृद्ध होना और वधू की अल्पावस्था; दूसरा, वर की तुलना में वधू का प्रौढ़ होना। इन विवाहों के पीछे मुख्यतः दो कारण देखे जाते हैं– प्रथम वर पक्ष के पास धन की प्रचुरता होने की स्थिति में लड़की का पिता सोचता है कि उसकी बेटी सुखी रहेगी और द्वितीय, कुछ पिता धन के लोभी होते हैं जिसके कारण वे धन के लालच में अपनी पुत्री का भविष्य उजाड़ देते हैं। एक अन्य कारण भी कभी–कभी दिखाई पड़ता है कि पिता अपनी आर्थिक मजबूरियों के वशीभूत होकर जीवनयापन के निमित्त अपनी बेटी को बेच देते हैं अर्थात् विवाह कर देते हैं। ऐसी स्थितियों का समाज द्वारा प्रतिरोध स्वाभाविक है। प्रतिरोध का एक फार्म व्यंग्य को भी माना जाता है। वर के वृद्ध होने का वर्णन लोककवि व्यंग्यात्मक लहजे में करता है–

दोऊ ओर दांत नहीं देख लोग दांत काढ़ें
बहै लार इतै उतै थूक सब जन रए
चार आँखें होंय नहीं गड़े जाएँ धरती में
घूर–घूर अन्य उन्हें देख सामने रए
ओर–छोर उमर के बांध गठजोरा करें
मूंछ कल्प कजरा के ठाठ पे ठने रए।[7]

यहाँ 'ओर–छोर उमर के' शब्दों के माध्यम से ही कवि पूरी कहानी कह देता है। बेमेल विवाह का दूसरा पक्ष है वधू का प्रौढ़ होना और वर की उम्र कम होना, ऐसे में क्या स्थिति बनती होगी–इसे कवि ने वर्णन करने का प्रयास इन पंक्तियों में किया है–

काए राजा! मुख डारो रूमाल, ढाई बरस के बालेमा
ढाई बरस के बालेमा, बिल्लू लै गई चुराए
काए राजा, मुख डारो रूमाल
सासू जौ ढूँढे, ननदिया ढूंढे, मोरी ढूंढे बलाय
ढाई बरस के बालेमा...
सासू जौ रोबै, ननद मोरी रोबै, मोरी रोबै बलाय
कुठवा जो ढूँढी, अटरिया जो ढूँढी, खटिया तरें दुके बालेमा
ढाई बरस के बालेमा... ।[8]

जीवन के आर्थिक पक्ष से जुड़ी हुई विकृति के रूप में ही घूस को भी देखा जाता है। घूस के लिए जो मनोवृत्ति काम करती है वह है धनलोलुपता। धनलोलुपता के पीछे दो कारण मुख्य रूप से दिखाई पड़ते हैं। पहला है, कर्मचारियों का वेतन कम होना, जिसके कारण उनका दैनिक जीवन कष्टमय रहता है, फलस्वरूप जीवन को सुखमय बनाने के लिए वे घूस लेना प्रारम्भ कर देते हैं। और दूसरा कारण है अत्यधिक धनसंग्रह की लालसा। घूस की परम्परा वैसे तो प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ने लगती है। धीरे–धीरे इसके आकार

और रूप में विविधता आती गई है। वर्तमान समय में बड़े से बड़ा काम घूस के आधार पर सुगमता से कराया जा सकता है। घूस का दायरा आज इतना व्यापक हो गया है कि इससे रिश्ते–नाते तक प्रभावित होने लगे हैं–

रिसवत सबई जगां भई चालू
का तरवां, का तालू।
बिना पइसा के कोऊ न चीने
का मामू, का खालू।[9]

धन को हाथ का मैल कहने वाले संन्यासियों, पंडे–पुजारियों की धन के प्रति घोर आसक्ति को देखते हुए जनकवियों ने उनके असली रूप को जनमानस के सामने प्रकट किया है। गाँव–समाज के निठल्ले और कामचोर व्यक्ति इन आसनों पर अपना कब्जा जमा लेते हैं और धर्म के नाम पर अपना उल्लू सीधा करते हैं। भक्ति से इनका नाता दूर–दूर तक नहीं होता, बस भक्ति का माहौल बनाकर धन ऐंठने का उपक्रम करते हैं–

जोर जमात कमात फिरै धन
नहिं कछु हरि भक्ति में जानें।
तेल लगाए बनाए सुकेश
दै भाल में बिन्दू तियान रिझाने।
बंचक भक्त कहावत राम के
कामना कोटि भरे अभिमाने।
किंकर कंचन कामिनी के
चतुरेश हैं आज के संत सयाने।[10]

गंगा किनारे बैठने वाले पंडों की धन–लोलुपता की इच्छा भी बुन्देली जनकवियों से नहीं छिप सकी है। इन पवित्र स्थानों पर होने वाली यह अप्रत्यक्ष लूट उनके मन में वितृष्णा पैदा करती है–

गंगा तेरे घाट पै पंडा रहे मुटाय।
मुँह मांगी निज दच्छिना, माँगे मुँह फैलाय।।[11]

नेता अर्थात् जनसेवकों के भी धन–प्रेम को इन जनकवियों ने अपने साहित्य का विषय बनाया है और नेता अगर सत्ता पक्ष के हैं तो फिर कहना है क्या–

है रावण की सरकार
पैसा देकर कुछ न खरीदो
करो बजार उधार
चाहे जिसके घर में घुसकर
कर बैठो अधिकार।[12]

लोक के मन की गतियों को ध्यान में रखते हुए सहज ही कहा जा सकता है कि लोक–संस्कृति में प्रतिरोध के विविध रूप सक्रिय हैं। लोकपरम्परा और लोकसंस्कृति में ही प्रतिरोध की संस्कृति भी मौजूद रहती है जिसकी अनुगूंज लोककलाओं, लोकनाट्य, लोकमिथक, लोककथा, लोकोत्तियों व कहावतों, लोकगीतों आदि के माध्यम से दबी अथवा परोक्ष प्रतिध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है। चूंकि लोकसंस्कृति लोकसमाजों में निर्वाह की व्यवस्था में परिणति हो जाती है। अतः जीवन के प्रतिरोधों का इसमें मुखरित होना स्वाभाविक है। यह भविष्य की अनिश्चितता से भावनात्मक मुक्ति भी है। इसी भावनात्मक मुक्ति को प्रतिरोध के कुछ सपनों को निर्मिति करके प्राप्त किया जाता है। बुन्देलखण्ड का लोकमानस भी इसी भावनात्मक मुक्ति को पाने के लिए प्रतिरोधी भाव के सपनों को बुनता है। इन सपनों में हमें जिस चेतना के दर्शन होते हैं। वह कहीं–न–कहीं, किसी–न–किसी रूप में राष्ट्रीय चेतना का ही अंग हैं, अनुषंगी है।

संदर्भ

1. डॉ0 मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त', बुन्देलखण्ड का साहित्यिक इतिहास, लक्ष्मी प्रकाशन, 86 पुरानी नझाई, झाँसी, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 31।
2. डॉ0 राम नारायण शर्मा, बुन्देली भाषा साहित्य का इतिहास (तुलनात्मक अध्ययन), सिविल लाइन्स झाँसी, संस्करण 2001, पृष्ठ 260।
3. डॉ. श्रीमती विनोद तिवारी, बुन्देलखण्डी एवं बघेलखण्डी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, साहित्यवाणी–इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1979, पृ0 203।
4. बुन्देलखण्ड का साहित्यिक इतिहास, पृष्ठ 124।
5. बुन्देली भाषा साहित्य का इतिहास, पृ0 405।
6. बुन्देलखण्डी एवं बघेलखण्डी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 159।
7. बुन्देली भाषा साहित्य का इतिहास, पृ0 274।
8. बुन्देलखण्डी एवं बघेलखण्डी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 289।
9. बुन्देली भाषा साहित्य का इतिहास, पृ0 405।
10. वही, पृ0 285–286।
11. बुन्देली भाषा साहित्य का इतिहास, पृ0 334।
12. वही, पृ0 286।